Chap-7

सप्तम-अध्याय

जीवन - दर्शन तथा इतर सांस्कृतिक पक्ष

प्राचीन भारत ने बहुत से धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों को जन्म दिया है। कदाचित ही संसार में ऐसा कोई मान्य सिद्धान्त हो, जिसे भारत के ऋषि-मुनियों ने न सोचा-समझा हो । प्राचीन भारत ने एकेश्वरवाद, मायावाद या अद्वैतावाद, विशिष्टा द्वैतवाद, भक्ति आदि धार्मिक व दार्शनिक तत्त्वों को - विकसित कर उन्हें व्यावहारिक जीवन से सम्बंधित करने का सफल प्रयास किया था। भारत के धार्मिक व दार्शनिक जीवन का विकास वेदों व उपनिषदों से होता है । इन ग्रंथों के अध्ययन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि विभिन्न वाद व पंथ एक ही वृक्ष की अलग-अलग शाखाएँ हैं। यह समन्वय मूलकता जीवन के अन्य क्षेत्रों में दिखायी पड़ती है । भारतीय समाज का संगठन भी उक्त लौकिक पारलौकिक उन्नति या अभ्युदय- निश्रेयस की चेतना से अनुप्राणित है, जिस पर पूर्ववर्ती अध्यायों में विचार किया जा चुका है । संस्कृति जीवन की चेतना है। उसमें जीवन की दिशा, नैतिकता, जीवन- दर्शन तथा तद्गत जीवन -मूल्य, आध्यात्मिक -धार्मिक चेतना, व्यक्ति की रुचि तथा अभिरुचि तथा उनसे संचालित कलात्मक चेतना आदि सभी कुछ आ जाते हैं । प्रस्तुत अध्याय में हमारा उद्देश्य दिनकर के काव्य में अभिव्यक्त इन इतर जीवन-पक्षों का अनुशीलन है । अत: विवेचनागत सुविधा के विचार से इस अनुशीलन को निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१- आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन(क) संस्कृति और अध्यात्म ।

२- जीवन-दर्शन तथा कामाध्यात्म

३- जीवन-दर्शन के अन्य आयाम

(क) कर्म मार्ग (ख) यथार्थ दर्शन (ग) प्रगतिवाद(घ) युद्ध-दर्शन

४- ललित कलाएँ ।

५- इतर पक्ष ।

उपर्युक्त जीवन पक्षों पर विचार करने से पूर्व यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार धर्म व दर्शन परस्पर सम्बंधित हैं उसी प्रकार काव्य और दर्शन का भी घनिष्ट सम्बंध है, क्योंकि जिस प्रकार जीवन-दर्शन हमारे जीवन के अभ्युदय-निश्रेयस की साधना के कर्तव्य- कर्मों का निर्धारण करता है और समाज की परंपरा उस निर्धारण को क्रमश: विकसित करती या उसमें निखार लाती रहती है, उसी प्रकार कवि सामाजिक घटक के नाते इन सभी की चेतना-समष्टि की देन होता है और इसी के साथ ही उसकी अनुभूति प्रवणता एवं विचारशीलता इन सर्वपक्षीय जीवन-चेतनाओं से निरन्तर रस ग्रहण करती जाती- अनुभूति और विचार के अमृत कणों को एकत्र करती जाती है। इस प्रकार व्यष्टि-संस्कृति तथा समष्टि संस्कृति के प्राप्त रसों से उसका जो काव्य - रसायन स्वाभाविक ऊर्जा के साथ निर्मित होता है। वह समाज को प्रभावित तो करता ही है। साथ ही उसे अनजाने अमरत्व प्रदान करता जाता है। यह अवश्य है कि इसकी प्रभविष्णुता इस बात पर निर्भर करती है कि उसका रचयिता कितना और किस गुणवत्ता का रस खींच पाया है और कितनी ऊर्जा के साथ वह उसे प्रक्षेपित कर सका है। अत: उपर्युक्त वस्तु-स्थिति के प्रकाश में भारतीय जीवन तथा धर्म दोनों काव्य और दर्शन से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं । काव्य और दर्शन के द्वारा जीवन के चरम लक्ष्य और परम तत्त्व की खोज की जाती है। परम तत्त्व का संधान करने की तत्परता व तन्मयता कवि व दार्शनिकों में होती है। उतनी अन्य मानवों में नहीं ।

काव्य का विषय है- जीवन और जगत् । जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति

तभी संभव है, जब हृदय, पवित्र, विशाल एवं उदार हो । हृदय के इन गुणों का विकास आदर्शों के सहारे ही संभव है, जिनकी अभिव्यक्ति दर्शन में होती है। दर्शन बुद्धि के माध्यम से जीवन और जगत को समझने का प्रयास करता है जैसा कि संकेत दिया जा चुका है कि काव्य का ताना-बाना भावना और - विचारशीलता से निर्मित है, अत: इसके कारण जगत् के रहस्यों का उद्घाटन करने की उसमें क्षमता रहती है । दार्शनिक जिस सत्य को चिन्तन द्वारा - निश्चित कर देता है । कवि उसी सत्य को जानने का प्रयास करता हुआ पाठक के हृदय ~~दर्शनिक-जिस~~ में उसे उतारने का प्रयास करता है । दार्शनिक जिस सत्य को तर्क द्वारा निरूपित करता है। कवि भावना-वैचारिकता के सामंजस्य द्वारा उसी सत्य को सहज ढंग से पाठक के हृदय में उतार देता है। दर्शन में जिन - धारणाओं को तर्कसम्मत कारणों से निर्धारित कर दिया जाता है कवि उससे भी आगे बढ़कर ~~सह-क~~ जीवन में उन्हीं धारणाओं का साक्षात्कार करता है। अत: यह कहा जा सकता है कि दर्शन यदि बुद्धि का विकास है तो काव्य हृदय का उल्लास ।

दिनकर जी के काव्य को दर्शन-पक्षों का अनुशीलन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा रहा है । जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है ।

<u>१-आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन :</u>

प्राचीन भारतीयों ने धर्म को वैज्ञानिक ढंग पर समझने का प्रयत्न किया था। इसके विपरीत अन्य देशों ने पुराने-रीति-रिवाजों व सभ्यता के सूर्योदय के पूर्व के आदिम जीवन-क्रम को ही धर्म समझ लिया था। वैशेषिक दर्शन के

प्रणेता इस प्रकार धर्म की व्याख्या करते हैं-'यतो भ्युदय नि: श्रेयस सिद्धि : स धर्म (वैशेषिक १।१।२) । अभ्युदय से लौकिक व नि:श्रेयस से पारलौकिक उन्नति एवं कल्याण ब का बोध होता है । जीवन के ऐहिक और पारलौकिक- दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बंधित किया गया था। 'धर्म उन सिद्धान्तों, तत्वों और जीवन प्रणाली को कह सकते हैं, जिससे मानव जाति परमात्म-प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके । साथ ही मृत्यु के पश्चात जीवात्मा जन्म-मरण के झंझटों में न पड़कर शान्ति व सुख का अनुभव कर सके। '[१] धर्म की इससे अधिक उदार परिभाषा नहीं हो सकती। 'धर्म ' का शब्द 'धृ '(धारण करना) धातु में 'मप्' प्रत्यय जोड़ने से बनता है , जिसका अर्थ धारण करने वाला होता है । इसलिए धर्म उन शाश्वत सिद्धान्तों के समुदाय को कह सकते हैं, जिनके द्वारा मानव समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर व उन्नतिशील बनकर अपने अस्तित्व को धारण करता है । सनत सनातन धर्म भी इसी अर्थ का द्योतक है । इसी प्रकार दर्शन शब्द भी अर्थपूर्ण है । इसमें आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म साक्षात्कार का भाव भरा है और भारतीय दर्शनों का भी यही उद्देश्य है । जीव को माया के बन्धन से छुड़ाकर ब्रह्म के दर्शन कराना, जिससे उसे परम सुख या शान्ति प्राप्त हो । यही भारतीय दर्शन का मूल मंत्र है ।

धर्म व दर्शन परस्पर बहुत ही सम्बंधित हैं। अज्ञात को ज्ञात करना यही दोनों का उद्देश्य है । उनमें अन्तर केवल इतना है कि धर्म जन-साधारण को अज्ञात तक ले जाने के लिए एक जीवन-क्रम तैयार करता है, जिसके अनुसार लोगों को चलना पड़ता है । धर्म मनीषियों द्वारा बनाया हुआ इस लोक तथा उस लोक को जोड़नेवाला एक मार्ग है, जिस पर चलकर जन-साधारण परम शान्ति का अनुभव करते हैं। दर्शन ब्रह्म, जीव और जगत के वास्तव्य के परिज्ञान तथा

उसके आधार पर आध्यात्मिक जीवन दृष्टि, प्रेरणा तथा इन सबके आधार पर साधना मार्ग का पथ प्रशस्त करता है। यद्यपि इसका चिन्तन पक्ष गम्भीर विचारकों तथा मननशील द्रष्टा मनीषियों की देन है, तथापि इसका प्रभाव जन - साधारण पर पड़े बिना नहीं रहता । प्राचीन भारत में धर्म व दर्शन की इस भूमिका ने दीर्घकाल तक हमारे सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित ही नहीं अनुप्राणित भी किया है। इसे स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम संस्कृति और अध्यात्म की चर्चा यहां की जा रही है ।

(क) संस्कृति और अध्यात्म :

दिनकर का कवि हृदय प्रारम्भ से ही स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता तथा यथार्थता के गीत गाता रहा । पर इन सबके लिए उसकी जो अभिव्यक्ति थी, वह भारतीय संस्कृति को ध्यान में रखकर । हम यह मान सकते हैं कि संस्कृति के परंपरा के संस्कारों से ही उसके काव्य को अभिव्यक्ति मिली है। इसीलिए उन्हें भारतीय संस्कृति का आख्याता भी कहा जाता रहा है । प्रथम अध्याय में उनकी संस्कृति विषयक अवधारणा को विस्तृत रूप में विवेचित किया जा चुका है। संस्कृति के विषय में उनकी दृष्टि बहुत व्यापक रही है। वे मानते हैं कि भारत की राजनीतिक राष्ट्रीयता उसकी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की देन है । भारत की प्रगति का मार्ग राजनीति और संस्कृति के मिलन का मार्ग है ।[२] आधुनिकता के ग्रहण की सीमा और प्राचीन संस्कृति के त्याग की आवश्यकता को लेकर आधुनिक विचारकों में जो वैचारिक संघर्ष चलता रहता है। दिनकर की कविताओं में उसकी व्यंजना है।[३] वे उस परंपरा को उपयोगी मानते हैं जो आधुनिक जीवन को गति दे सके । इससे स्पष्ट है कि वे प्राचीन अध्यात्म चिंतन के साथ आधुनिक जीवन की यथार्थता के समन्वय के समर्थक हैं। इस परंपरा में परलोक के प्रति

विश्वास और अदृश्य के प्रति आस्था इसके सृष्टि-बोध की रीढ़ है ।[४] पूर्ण भौतिक सुखों में डूबा हुआ व्यक्ति भी उसे चरम साध्य नहीं मानता । यहां आत्मा की अमरता का जयघोष होता रहा है । इसलिए मृत्यु की गणना जीवन की एक अवस्था के रूप में की जाती है -

अविशिलष्ट वह देश जहां पर मनोमग्न जीवन है ।
चेतनता निष्कंप जहां नीरवता में कंपन है ।
सिमटा सार निखिल प्राणों का जिसके निभृत निलय में।
अक्षय-अमृत-घटी सा जो विजड़ित है काल हृदय में ।
स्वप्न देहधर जहां बिचरते मिट्टी का पग देकर ।
और सत्य भिल-मिल रहता आभास स्वप्न का लेकर ।
जहां मरण के रन्ध्र-रन्ध्र में कूजित अमर प्रकाश ।
आलिंगन में बंधे पड़े हैं मृत्ति और आकाश ।।[५]

उपर्युक्त कविता में उनकी भारतीय संस्कृति की विशेषता का ही अभिव्यंजन हुआ है। भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। इसका मूलभूत कारण इसकी विशेषताएं हैं। भारतीय साधक एवं विचारक श्री अरविन्द के अनुसार इतर संस्कृतियों से इसकी भिन्नता का मूलभूत कारण इसका आध्यात्मिक उद्देश्य है। जो उसमें बाहर से दीखनेवाली जीवनगत बाह्य भिन्नताओं में मौलिक एकता प्रदान करता है।[६] इससे स्पष्ट है कि इसकी मुख्य विशेषता अध्यात्म की है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारतीय संस्कृति में भौतिक जीवन को सर्वथा उपेक्षित किया गया हो । इतना अवश्य है कि वह भौतिकता को चरम साध्य नहीं मानता और इसका पूर्ण परित्याग भी नहीं करना चाहता ।

उसी को आधार बनाकर आगे की यात्रा करना चाहता है । श्री अरविन्द भौतिकता का आधार ग्रहण कर आत्मा के अभियान में जाना चाहते हैं और अकेले नहीं, सारी सृष्टि को उसी दिशा में रूपान्तरित करना चाहते हैं ।[७] भारतीय चिन्ताधारा ने यह अनुभव कियाथा कि मानव जीवन तब तक नि:सार और अंधकारपूर्ण है जब तक वह आध्यात्मिकता की ज्योति से ज्योतित होने से वंचित है ।[८] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीयों ने भौतिक क्षेत्र में यथेष्ठ उन्नति करके जीवनगत चरम साध्य आध्यात्मिकता को ही स्वीकार किया था।

भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का सामंजस्यपूर्ण परिदर्शन वैदिक संस्कृति में लक्षित किया जा सकता है। दिनकर जी ने इसी सामंजस्यपूर्ण स्थिति को वर्तमान समस्याओं के समाधान के लिए उपयोगी माना है। उनके काव्यों में स्थान- स्थान पर इसकी अभिव्यक्ति हुई है। वैदिक संस्कृति ने मनुष्य के जीवन के चार सूत्र बना दिये थे- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । धर्म का अभिप्राय उन व्यावहारिक बातों से है, जो जीवन को प्रेरणा देती हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में ही धर्म के मुख्य अंग हैं। इन्हीं से व्यक्तियों का, समाज का व राष्ट्र का जीवन प्रभावित होता है । धर्म के बाद अर्थ भी समाज का एक आवश्यक अंग है । जिसमें धर्मपूर्वक अर्थ की उत्पत्ति का नियम बनाया गया था, इसके बाद 'काम' आता है। जिस प्रकार अर्थ का सम्बंध शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से है, उसी प्रकार 'काम' का सम्बन्ध है-'मानसिक आवश्यकताओं अथवा कामनाओं से । इसके पश्चात मोक्ष आता है, मोक्ष का अर्थ मुक्ति लिया जाता है । पर मुक्ति तो मृत्यु के अनन्तर ही हो सकती है । यह मोक्ष तो जीवित रहते अर्थ, काम से छूट जाना है। इसीलिए वर्णाश्रम व्यवस्था बनायी गयी थी। अर्थ व काम के लिए यहाँ पर गृहस्थाश्रम की व्यवस्था हुई तथा मोक्ष के लिए वानप्रस्थ व

सन्यास की । यह सब व्यवस्थाएँ संतुलित जीवन की दृष्टि थी, जहाँ पर विकृतियों के लिए कोई स्थान न था । आज का युग स्वतंत्रता-स्वच्छंदता का युग है, चूँकि दिनकर ने 'काम' को एक ऐसे विशाल फलक पर प्रस्तुत किया है, जो कि विद्वानों के लिए विवादास्पद विषय रहा है । उसकी चर्चा व स्पष्टीकरण के लिए उपर्युक्त संक्षिप्त व्याख्या आवश्यक थी ।

२-जीवन -दर्शन तथा कामाध्यात्म :

भारतीय दर्शन में काम को सृष्टि का मूल तत्त्व माना गया है। उसे मोक्ष का साधन और साध्य तथा जीवन की सर्वोपरि धर्म व ध्येय कहा गया है । ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में काम की सविस्तार व्याख्या की गयी है । वैदिक संस्कृति में भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का समन्वय रहा है । क्योंकि इसमें भौतिक जगत को आध्यात्मिक जगत का अनुगामी माना गया है । साधन माना गया है। अतः यह संस्कृति कोरी आध्यात्मिक न होती हुई भी अध्यात्म-वाद के अन्दर ही समा जाती है। यद्यपि यह भौतिक यथार्थता को स्वीकार नहीं करती। इस दृष्टि से इसे न भौतिकवाद कहा जा सकता है न कोरा अध्यात्मवाद। इसे व्यावहारिक अध्यात्म कहा जा सकता है जिसे डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने भौतिक अध्यात्मवाद की संज्ञा दी है ।[६] पुरुषार्थ चतुष्टय व चतुराश्रम व्यवस्था इस बात की साक्षी है कि मनुष्य भौतिकवाद से ही अध्यात्मवाद की ओर बढ़ता है । भौतिकता को उसने कुछ नियमों में बाँध दिया था, जिसके कारण ही वह अध्यात्म की पहली सीढ़ी तक पहुंच पाता था, पाश्चात्य संस्कृति की तरह हमारी संस्कृति में उच्छृंखल काम के लिए कोई स्थान न था। यहाँ पर संतुलित दृष्टि से काम के सेवन की व्यवस्था थी ।वैदिक संस्कृति

समन्वयमुखी कही जा सकती है। क्योंकि इसमें भोग का भी महत्त्व है और त्याग का भी। भोग त्याग की ओर संकेत करता है जिसे ईशावास्योपनिषद् में त्याग से भोग का विधान कहा गया है । संसार के विषयों की नि:सारता किसी अनन्त शाश्वत सुख के स्रोत की सत्ता की ओर इंगित करती है जो कि नि:संदेह अध्यात्म है। वैदिक संस्कृति इस दृष्टि में व्यावहारिक तथा व्यापक है, जिसमें काम की यथार्थता तथा उसके समुचित नियमन का सुन्दर समन्वय विद्यमान है ।

दिनकर ने 'उर्वशी' काव्य में उक्त काम की समस्या को प्रस्तुत किया है। वह काम के सेवन के पश्चात ही उस अध्यात्म(Meta phisical) तक पहुँचने का मार्ग संधान करते हैं। उनकी दृष्टि में काम ही अथवा नर या नारी ही वह महत्त्वपूर्ण सूत्र है, जिन्हें काम की धारा उछालते,उछालते अंग-शून्य बनाकर एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करा देती है, जो कि उनकी दृष्टि में अध्यात्म है अथवा उस असीम सत्ता तक पहुंचने का मार्ग है। आदर्श और यथार्थ, सौन्दर्य और सत्य, अरूप और रूप, ऐन्द्रियता और अतीन्द्रियता को लेकर जो द्वन्द्व पुरुरवा के हृदय में उठते हैं और जिनका उत्तर उर्वशी देती है । वे प्राय: अध्यात्म चेतना से संपृक्त हैं। द्वन्द्व प्रवृत्तियों एवं आदर्श में है और प्रवृत्तियों में भी काम प्रधान है। कवि ने योग और भोग तथा शरीर और आत्मा में सामंजस्य की स्थापना द्वारा काम के काम्य रूप की कल्पना की है, जिसमें प्रणय और काम तत्त्व का विवेचन निष्काम काम की पृष्ठभूमि में किया गया है । ऐन्द्रिय और भावनात्मक प्रेम विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। शरीर वह माध्यम है, जिसके द्वारा नर और नारी स्थूल का अतिक्रमण कर किसी वायवीय और किरणोज्ज्वल देश में पहुँचना चाहते हैं। इसीलिए जहाँ इन्द्रिय सुख ही साध्य बन जाता है वह प्रेम का पाप रूप होता है -

फलासक्ति दूषित कर देती, ज्यों समस्त कर्मों को ।
उसी भाँति वह काम कृत्य भी दूषित और मलिन है ।
स्वतः स्फूर्त जो नहीं, ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा का ।
सप्रयास है शमन, जहाँ पर सुख खोजा जाता है
तन की प्रकृति नहीं, मन की माया से प्रेरित होकर ।[१०]

प्रेम का आदर्श रूप वह है, जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में उदात्तीकृत स्थिति का नाम दिया जा सकता है, जिसमें पहुंचकर व्यक्ति इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श करता है। 'पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के काम पक्ष का माहात्म्य बताता है। कायिक अनुभावों द्वारा व्यंजित कामजन्य प्रेरणाओं की निराकार झंकृतियाँ उदात्तीकरण का सूक्ष्म सोपान मात्र हैं। वे अपूर्ण और अधूरी हैं, पूर्ण है वह स्थिति, जब आरण्य में डूबकर मनुष्य भूतोत्तर सौन्दर्य की अनुभूति करता है, जब वह सौन्दर्य की समाधि में पहुंच जाता है। काम का यही रूप स्वस्थ है, यही उसकी आध्यात्मिक महत्ता है।'[११]

कामजन्य द्वन्द्वों का समाधान और निराकरण रागों की मैत्री, आसक्तियों के बीच अनासक्त होने में तथा स्पृहाओं को भोगते हुए भी निस्पृह और निर्लिप्त होने में है। वर्तमान युग की कामजन्य उलझनों से मूल प्रेरणा प्राप्त करने पर भी दिनकर का दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। वे समस्या को केवल पुरुष के दृष्टिकोण से एक सीमित क्षेत्र और रूढ़िवादी परंपरा में रखकर ही देख सकते हैं। जिसके अनुसार नारी प्रवृत्तियों की एक बंडलमात्र रह गयी है।

सार्वभौम स्तर पर मृण्मयी भावनाओं के उद्रेक और चिन्मयी बुद्धि के विवेक के द्वन्द्व से आज की नारी भी पुरुष के समान ही ग्रस्त है । परन्तु शायद प्रतीक की परिसीमा के कारण ही `उर्वशी` का कवि अपनी नायिका को मस्तिष्क और बुद्धि का वरदान नहीं दे सका ।[१२]

`उर्वशी` काव्य का मूल विषय काम है, जिसे भिन्न-भिन्न पात्रों द्वारा अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत किया गया है । नायिका उर्वशी का प्रेम शुद्ध ऐन्द्रिय भोग का प्रतीक है । वह देवलोक से मानव लोक में केवल ऐन्द्रिय सुख के सम्पूर्ण उपभोग के लिए आती है क्योंकि देवलोक में अतीन्द्रिय सुख ही काम है , जिसमें परितृप्ति नहीं होती। पुरुरवा में सहज मानवीय प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है । यह मानव-चेतना तीन धरातलों पर आधारित है। इन्द्रियां, मन और चैतन्य आत्मा । पुरुरवा जिस मानवीय काम का प्रतीक है व ऐन्द्रिय होकर भी आत्मिक है । पार्थिव होकर भी अपार्थिव है । काम का तीसरा रूप औशीनरी के प्रेम में है । उसका प्रेम भोग पक्ष का न होकर संपूर्ण आत्मदान का प्रतीक है। चौथा रूप सुकन्या के प्रेम में है, जो काम का सफल रूप है- गार्हस्थ रूप । जहां पर काम का पूर्ण उपभोग तो है पर वह स्वतंत्र न होकर धर्म का ही अंग है। काम के उपर्युक्त चार रूप दिनकर जी ने `उर्वशी` में अभिव्यक्त किये हैं तथा काम की चिरन्तन समस्या का समाधान खोजने में वह लगा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि काम अत्यन्त मौलिक वृत्ति है और जीवन की समृद्धि में उसका योगदान निश्चय ही सर्वाधिक है । किन्तु काम जीवन की सिद्धि हो, यह प्रश्न कुछ विचारणीय है लगता है। जीवन के व्यापक और स्थूल मूल्यों के आधार पर इस प्रकार की स्थापना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार काव्य में पुरुरवा ऐन्द्रिय रति को ही आत्मरति की साधना मानता है। आधुनिक युग के जीवन- मूल्यों व

बदलते परिवेश के सन्दर्भ में भी इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसा कि डॉ० विजेन्द्रपाल सिंह मानते हैं कि- 'जागरण के साथ ही प्रकृति के तत्त्वों में रासायनिक परिवर्तन शुरू हो जाता है। अतः काम-वासना के प्रति प्रखर-जागरण से ही शनैः शनैः ब्रह्मचर्य का जन्म होने लगता है। अंधकार से प्रकाश की यात्रा आरंभ होती है। काम को पूरी तरह समझकर ही काम से मुक्त हुआ जा सकता है। काम से मुक्ति ही ब्रह्मचर्य है।[१३] वे आगे कहते हैं - 'संभोग का क्षण परमात्मा के सृजन का क्षण होता है। विषयानन्द ~~ब्रह्मन~~-ब्रह्मानंद का ही सहोदर है। ये दोनों एक ही अनुभव से विकसित हैं। परमात्मा से नैकट्य बोध का क्षण काम पाप नहीं है। काम अपराध नहीं है। वह पूजा के नैवेद्य की तरह पवित्र है।[१४]

'उर्वशी' को लेकर उसके काम को भी अध्यात्म मानना यहाँ विचारणीय है। लेखिका का नम्र सुझाव है कि यदि काम की उपर्युक्त धारणा को मान लिय जाय तो यह आलोचना भी विद्वत लोगों को न करनी चाहिए कि सहजयानियों की वाममार्गीय साधना गलत या अनुचित थी। स्वयं दिनकर ने इसे अन्यत्र अनुचि ठहराया है तथा शैवाल की संज्ञा दी है।[१५] इस सन्दर्भ में गजानन माधव मुक्ति बोध की यह धारणा उल्लेखनीय है- 'प्राचीन आध्यात्मिक सांस्कृतिक और कलात्मक जगत में परम तत्त्व के साक्षात्कार के लिए काम-मार्ग नहीं चुना गया। यह सिद्धों और तांत्रिकों की और उनसे प्रभावित अन्य मार्गों की देन है। दिनकर ने कालिदास की कृतियों, पुराणों और वेदों से न केवल कथा-तत्त्व या ऐतिहासिक पक्ष लिया, वरन् एक काव्य-संस्कृति ग्रहण करने का आभास उत्पन्न किया। उस प्राचीन सौन्दर्यपूर्ण सांस्कृतिक उन्मेष के साथ ही साथ ~~मध्य-युग~~

मध्य युग के सूर्योदय काल में उपस्थित सिद्धों-तांत्रिकों की काम-साधना ली और फिर दोनों को एकभूत करने का प्रयत्न कर दिया। सिद्ध और तांत्रिक ऐश्वर्य नहीं चाहते थे,। किन्तु दिनकर ऐश्वर्यपूर्ण विलास चाहते हैं, जिसका सम्मोहक आलोक मंडल उन्हें प्राचीन काव्य-संस्कृति में दिखायी दिया। किन्तु प्राचीन कवि मनीषियों के पास साधना का कोई क्रम-मार्ग नहीं मिला। सिद्धों और तांत्रिकों में उन्हें वह दिखायी दिया। इसीलिए कवि स्वभावानुसार उन्होंने दोनों को मिलाकर उर्वशी का रूप - स्वरूप तैयार किया।[१६] अतएव, उर्वशी का यह कामदर्शन अथवा कामाध्यात्म जीवन-दर्शन के किसी पक्ष में ग्राह्य नहीं हो सकता। और न काम्य ही। वस्तुत: काम को महत्पुरुषार्थ से आगे जीवन का चरम पुरुषार्थ मानना ही गलत है। जीवन का चरम पुरुषार्थ धर्म ही हो सकता है। जिसमें लौकिक दृष्टि से अभ्युदय और आध्यात्मिक दृष्टि से नि:श्रेयस की सिद्धि अन्तर्भूत है। अर्थ और काम उसके साधन हैं ----- काम अर्थ की अपेक्षा निश्चय ही अधिक समृद्ध और काम्य है, किन्तु उसे भी साध्य नहीं माना जा सकता। उर्वशी के मूल विचार की सबसे बड़ी बाधा यही है कि वह साधन में सिद्धि ढूँढने के लिए प्रयासशील है।[१७] हम यह कह सकते हैं कि दिनकर ने `उर्वशी` में जिस कामधर्म की व्याख्या की है उसका प्राचीन जीवन दृष्टि से कोई सम्बंध नहीं है। वह कवि की मौलिक कल्पना है। उनकी कल्पना स्वच्छन्द प्रेम के विचरण की है। उनका काम धर्म समन्वित काम न होकर उन्मुक्त भोग का समर्थक है। यह प्रकृति के नित्य आनन्दमयी सौन्दर्य में खो जाने को हीसमाधि मानता है -

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को।
हम निसर्ग के किसी रूप नारी नर या फूलों से।
खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है।
दैहिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते हैं।
मानो मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।[१८]

कामायनी के श्रद्धा और मनु के आख्यानों द्वारा जीवन-मूल्यों की व्याख्या की जा सकती है। श्रद्धा और मनु जैसे पात्र इसके व्याख्याता हो सकते हैं, परंतु उर्वशी और पुरुरवा की प्रेम-कथा के द्वारा जीवन-मूल्यों की न तो व्यवाख्या की जा सकती है और न 'उर्वशी' दार्शनिक गूढ़ सत्यों को व्यक्त करने वाली उपयुक्त चरित्र है। उर्वशी का दर्शन वस्तुत: कामात्मक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति अथवा सायास आध्यात्मिकता का मिथ्या आभास दिखाना मात्र है। दूसरे शब्दों में वह कामात्मक अहं की गतिविधियों के औचित्य स्थापना का प्रयास है। [१९]

अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि उर्वशी नर-नारी के प्रबल उद्दाम आकर्षण और मिलन का, काम और प्रणय के अतिरेक का काव्य है। दिनकर ने 'उर्वशी' में जो काम-धर्म का विश्लेषण किया है वह इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि अनुभूति के बलपूर्वक विराटीकरण, उदात्तीकरण और विस्तार का मोह समर्थ से समर्थ, कलाकार के लिए घातक हो सकता है। दिनकर जी ने भूमिका में लिखा है-'कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।[२०] कविता की यह व्याख्या सही हो या न हो, पर सत्य ही 'उर्वशी' में वे ही अंश काव्यात्मक सफल तथा सुन्दर हैं, जिनमें कवि ने अपनी ही इस परिभाषा का अतिक्रमण नहीं किया है। इसमें उतनी आत्म सजगता तो नहीं है कि अंकन अश्लील लगे, फिर भी उसमें प्रौढ़ रोमांस का सा भारीपन है। स्थूलता है और समस्त छद्म आध्यात्मिकता के बावजूद एक प्रकार की मांसलता स्पष्ट देखी जा सकती है। यह एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है। कामात्मक इन्द्रिय संवेदनाओं के जाल में खो जाने के क्षणों में उनका आध्यात्मिकीकरण नहीं कियाजा सकता। [२१]

कवि के जीवन-दर्शन पर विचार करते हुए हम इस काव्य को उसकी संपूर्ण काव्य-धारा से अलग नहीं ले सकते । कवि कीसंपूर्ण कृतियों में `अनल` ही एकमात्र केन्द्र बिन्दु बनकर आया है । कवि इसी `अनल` के प्रति सदा प्रबुद्ध रहा है । वह जीवन और धर्म दोनों में ही इस अनल की ज्योति और ज्वाला को जगता देखना चाहता है । `अनल का दाह भी उसे पसन्द है और उसका प्रकाश भी । दाह के बिना प्रकाश की सत्ता नहीं और प्रकाश बिना दाह व्यर्थ है । जीवन केवल उत्तेजना या वासना के ज्वार का नाम नहीं है। वह तो सागर का विस्तार है, उसकी गहरायी भी, उसका ज्वार भी और उससा शान्त भी ।[२२] यदि भारतीय संस्कृति की दृष्टि से `उर्वशी` का विश्लेषण किया जाय तो औशीनरी का काम व सुकन्या का काम-दर्शन इस दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण दिखायी देता है। पत्नीत्व से मातृत्व की महिमा की जो प्रशस्ति दिनकर ने अप्सराओं के माध्यम से की है वह नि:सन्देह उच्च कोटि की तथा भारतीय संस्कृति की मान्यताओं के अनुरूप हैं। कवि की काव्य-विकास की दृष्टि से `रसवन्ती` `उर्वशी` की पूर्व पीठिका है । `उर्वशी` के सभी प्रमुख भाव, सभी विचार बीज रूप में रसवन्ती में मिलते हैं। `उर्वशी` के विषय में इतना कहा जा सकता है कि अपने दिल्ली प्रवास के बीच उसके मादक वातावरण में रहते हुए दिनकर के हृदय में जिस कोमल नारी व `बालिका वधू` की छवि थी, `उर्वशी` उसी नागरीय संस्कृति के उच्छृंखल प्रेम का परिणत रूप है । जहाँ दिनकर इस नागरीय सुन्दरी को भारतीय संस्कृति के पौराणिक आख्यान से उसे आवेष्टित कर अपने काव्यगत् शिल्प- कौशल के साथ कविता में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु जिस गरिमा के साथ वे काम के महिमामंडित रूप को अध्यात्म की आँखों से देखना चाहते हैं उसमें सफल नहीं हो पाये । भले ही कुछ विद्वान उसे कामाध्यात्म की कविता कहें, पर यह कामाध्यात्म हमारी संस्कृति के उच्च स्तर को नहीं दर्शाता, बल्कि विद्वानों द्वारा उसका एक अनौचित्य तर्क-रूप ही प्रस्तुत करता है ।

जीवन-दर्शन के अन्य आयाम :

दिनकर के काव्य में इस दर्शन के अतिरिक्त अन्य जीवन- दर्शनों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, जिसे हम यहाँ पर प्रस्तुत करेंगे । दिनकर गीता के कर्म मार्ग से बहुत प्रभावित थे। कुरुक्षेत्र तथा अन्य काव्यों में उनका यह कर्म-दर्शन अपनी उत्कृष्टता के साथ व्यक्त हुआ है, जिसकी संक्षिप्त चर्चा परवर्ती पृष्ठों में की जाएगी ।

(क) कर्म - मार्ग :

दिनकर की वैचारिक चेतना का जो निदर्शन पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया गया है उसके साथ उनकी जीवन-विषयक पूर्ववर्ती अध्यायों में निर्दिष्ट अवधारणाओं पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि इसमें उनके गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन का बहुत बड़ा योगदान है । कवि प्राचीन मान्यताओं और जीवन-दर्शनों को आधुनिक सन्दर्भों में देखता रहा है । अत: इस विशेषता के कारण कर्म मार्ग आदि पर उसकी जो सांस्कृतिक जीवन-दृष्टि उभरकर आती है, वह समन्वयवादी कही जा सकती है । जैसा कि एतद्विषयक परवर्ती विवेचन से प्रकट है। इसे स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम कर्म मार्ग विषयक उनकी अवधारणा विचारणीय है ।

कवि ने देश या व्यक्ति की परतंत्रता का विरोध अपने काव्यों में राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं किया, वरन् विचार के क्षेत्र में भी मनुष्य की दासता का विद्रोह किया है । वह यह बात अच्छी तरह जानता था कि हमारी परतंत्रता का सबसे बड़ा कारण सांस्कृतिक अध:पतन है। सांस्कृतिक जड़ता किसी भी मनुष्य या राष्ट्र की सबसे बड़ी दुर्बलता होती है । उसके कारण समस्त

जाति ही गिर जाती है। कवि लोकमान्य तिलक के 'कर्मयोग रहस्य' से प्रभावित हुए। जिस प्रकार गीता का उपदेश भारत के सांस्कृतिक पतन के अवसर पर दिया गया था, उसी प्रकार तिलक ने भी हर प्रकार की दासता से छूटने का आह्वान इसी गीता से प्रेरणा पाकर कर्म-मार्ग की प्रतिष्ठा द्वारा किया था। कवि ने राष्ट्र की उदासीनता और उपेक्षा को हटाने के लिए तिलक के इस मार्ग को ही अपनाया। उसने 'कुरुक्षेत्र' में इसी कर्ममार्ग को अपरिहार्य माना है। जिस प्रकार तिलक ने गीता को कर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादक ग्रंथ सिद्ध किया है। उसी प्रकार दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम ~~सप्तम~~ सर्ग में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्गों का वर्णन करते हुए निवृत्ति का खण्डन किया है -

एक पंथ है, छोड़ जगत् को
अपने में रम जाओ,
खोजो अपनी मुक्ति और
निज को ही सुखी बनाओ।
~~अन्यत्र~~ अपर पंथ है औरों को भी
निज विवेक बल देकर
पहुँचो स्वर्ग लोक में जग से
साथ बहुत को लेकर।[२३]

कवि इस प्रवृत्ति मार्ग के द्वारा कर्मयोग की ओर संकेत किया है और निवृत्ति के माध्यम से सन्यास पर प्रकाश डाला है -

जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो,
निकल भागता बन में

धर्मराज है घोर पराजय,
नर की जीवन रण में
यह निवृत्ति ग्लानि, पलायन
का यह कुत्सित कर्म है
नि:श्रेयस यह भ्रमित, पराजित
विजित बुद्धि का भ्रम है
+ + +
भ्रमों की रही तुमको विरक्ति जो
वह अस्वस्थ, सब हैं,
अकर्मण्यता की छाया, वह
निरे ज्ञान का छल है ।[२४]

बौद्ध संस्कृति में निवृत्ति अथवा वैराग्य या सन्यास का मार्ग श्रेयस्कर समझा जाता था।, किन्तु आधुनिक चिन्तकों ने संसार में रहते हुए प्रवृत्ति को भी उसी उच्च धरातल पर स्थित किया है। उनके अनुसार यही जीवन-दर्शन का तत्त्व है कि संसार में रहते हुए अपने जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाना। दिनकर भी इसी जीवन निष्ठा को मानते हैं। वैराग्य को वे पलायन का मार्ग बताते हैं। कवि कर्म की निरपेक्ष स्थिति को स्वीकार करते हुए कहता है कि कर्म स्वयं निरपेक्ष है। शुभ-अशुभ का निर्णय कर्त्ता की भावना पर निर्भर करता है। बुद्धि में समरसता का समावेश कर लेने से व्यक्ति पाप और पुण्य से ऊँचा उठ जाता है, चाहे वह युद्ध ही क्यों न हो -

है मृषा तेरे हृदय की जल्पना,
युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है ।
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो।

सत्य ही भगवान ने उस दिन कहा
मुख्य है यह भाव, जीवन युद्ध में
भिन्न हम कितना रहें, निज कर्म से । [२५]

कवि की दृष्टि में कर्म अनिवार्य है। वह भाग्यवाद का विरोधी व पुरुषार्थ का समर्थक है । वह यही मानता है कि जो कर्म करते हैं, भाग्य भी उन्हीं का साथ देता है। कर्म की उपर्युक्त अनिवार्यता भगवद्गीता में भी विवेचित है। मनुष्य अपने पौरुष के बल पर प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बना सकता है । प्रकृति पर मनुष्य ने जो विजय प्राप्त की है उसका श्रेय कर्मशीलता को है न कि भाग्यवाद को। उद्यमी मनुष्य ही सफल जीवन जीने का अधिकारी है। निष्क्रिय और पलायनशील व्यक्ति जीवन को कभी उन्नत और सफल नहीं बना सकता। ब्रह्मा द्वारा लिखित भाग्य लेख का बहाना तो कायर जन ही किया करते हैं। वीर पुरुष तो अपने श्रम के द्वारा अपने भाग्य की विडम्बना को मधुफल में बदल देते हैं। कर्म करना मनुष्य का धर्म है। अपने इस धर्म को छोड़कर वह किसी भी प्रकार का सुख प्राप्त नहीं कर सकता। वह भागकर जहाँ भी जाएगा, कर्म उसके पीछे लगा रहेगा। [२६] कर्मठ मनुष्य का पथ सन्यास का नहीं है। अमरत्व की प्राप्ति के लिए कर्मण्यता अनिवार्य है। कवि पुरुषार्थ मानव को एकमात्र धर्म समझता है । अत: कर्ण द्वारा यह उक्ति प्रस्तुत करता है -

कुल गोत्र नहीं साधन मेरा,
पुरुषार्थ एक बस धन मेरा ।
कुल ने तो मुझको फेंक दिया ।
मैंने हिम्मत से काम लिया । [२७]

कवि भाग्य से पुरुषार्थ को कहीं अधिक शक्तिशाली मानता है -

बाँहों को, पर कहीं भाग्य से बली मानता हूँ मैं ।
महाराज, उद्यम से विधि का अंक पलट जाता है ।
किस्मत का पाशा पौरुष से हार पलट जाता है । [२८]

तात्पर्य यह है कि कवि दिनकर ने प्रवृत्ति और दो मार्गों में से प्रवृत्ति को ही मानव-जीवन के लिए श्रेयस्कर स्वीकार किया है। उसका दर्शन अध्यात्मवादी होकर भी कर्म मार्ग पर बल देता है। वह गीता की ही भाँति जीवन के तेज और ओज का समर्थक है ।

(ख) यथार्थ - दर्शन :

दिनकर अपने कवि जीवन में आरंभ से यथार्थ के कवि रहे हैं । उनके कवि-जीवन का प्रारंभ ही उस समय हुआ, जब देश की स्थिति संघर्षमय थी। इसलिए उनके काव्य में यथार्थ दर्शन को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । पूर्ववर्ती अध्यायों में इस विषय पर विस्तार में चर्चा की जा सकल चुकी है । यहां पर मात्र उनके इस यथार्थ दर्शन की संक्षिप्त चर्चा की जा सकती है। दिनकर ने बदलते जीवन-मूल्यों को देखा है । इन जीवन-मूल्यों को वे मात्र दर्शक की तरह नहीं देखते, परन्तु उसे अपने शोणित में रचा-बसाकर उसे काव्य में अभिव्यक्ति देते हैं। इसलिए उनके इस यथार्थवादी दृष्टिकोण में जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रह पाया। भारतीय जन-जीवन की छोटी से छोटी समस्या का समाधान तो कवि करता ही है, परन्तु उसके लिए दु:खी होकर रोता-कराहता भी है । कवि भारतीय संस्कृति तथा मानव आत्मा के महत्त्व को कभी भूल नहीं सका है । बाह्य समाज के रूप और मानव की आत्मा दोनों पर उसकी दृष्टि समान रूप से पड़ी है। नर-नारी के बीच स्थित परम्परागत समस्या को उसने शाश्वत समस्या का रूप दे दिया है। उसने जीवन के त्याग और भोग अथवा कर्म व फल के बीच एक समन्वयात्मक मार्ग के संधान का

प्रयास किया है। मनुष्य की कल्पनाएँ उसे दु:ख से पलायन की बात कहती हैं और कवि उसी दु:ख को धैर्य से अपनाने की बात करता है। `परशुराम की प्रतीक्षा` में भी कवि ने प्रत्यक्षत: यथार्थ का ही वर्णन किया है। लेकिन आचार और जीवन के मूल्य को उससे कम नहीं होने दिया है। वे इसी मान्यता में विश्वास रखते हैं कि साहित्य जीवन की यथार्थता को प्रतिबिंबित करता है -

जो कुछ सीख रहा जीवन में,
आखिर नहीं सिखाऊँगा।[२९]
जिसके मूर्त स्वप्न भूखे हों, वह गायक कैसे गाये।[३०]

जीवन का यथार्थ ही एक साधना-भूमि है, जहां कर्मठ और युगचेता व्यक्ति ही वरदान प्राप्त कर सकते हैं। यथार्थता की मिट्टी का आराधक कवि अपनी यथार्थ कविता को ~~सिद्ध~~ स्वयं सिद्ध करता है -

जिनको न तटी से प्यार, उन्हें अम्बर में कब आधार मिला ?
यह कठिन साधना-भूमि बंधु, मिट्टी को किये प्रणाम चलो।[३१]

इस यथार्थवादी दर्शन से उनका प्रगतिवादी दृष्टिकोण जुड़ा है, जिस पर यहां स्वतंत्र रूप से विचार किया जा रहा है।

(ग) प्रगतिवादी दर्शन :

प्रगतिवाद जहाँ एक निश्चित सामाजिक-आर्थिक जीवन-दर्शन से प्रेरित है, वहाँ वह यथार्थता को अपनाकर नितान्त परम्परानुगामिता का विरोधी है। अत: यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में प्राचीन की आधुनिक व्याख्या के उपरान्त यह नये सन्दर्भों में तदनुरूप नये जीवन-दर्शन का एक सशक्त पदन्यास है। इसके आगमन ने

साहित्य की एक ऐसी जमीन तैयार की है, जिसमें प्राचीनता के व्यामोह का निर्मोक धीरे-धीरे उतरना प्रारंभ हो जाता है। प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवादी विचारधारा को अपना आधार मानकर चलती है। दिनकर को प्रगतिवादी कहें या न कहें, यह भी एक प्रश्नवाचक चिन्ह के रूप में हमारे सम्मुख आता है। वह प्रगतिवादियों से भिन्न तो हैं इसमें सन्देह नहीं। प्रगतिवादियों का सीधा विरोध पूंजीपतियों से था। वे साम्यवाद या समाजवाद का नारा लगाते हुए लाल फण्डे या लाल सितारे की बात तो कह रहे थे, पर वे यह भूल गये कि इसका मूल कारण परतंत्रता है। वे मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित होकर केवल अर्थ-समता के गीत गाते रहे। जबकि दिनकर ने अपने गीतों से स्वतंत्रता -प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाया। विदेशी शासकों के प्रति (जो कि शोषक वर्ग था) शोषित जनता को प्रोत्साहित कर विद्रोह की क्रांति का शंख फूंका। कवि ने यदि साम्यवाद को अपनाया तो केवल अर्थ-वैषम्य को दूर करने के लिए। सामान्य तौर पर प्रगतिवादी समझे जाने वाले कवियों ने सामाजिक प्रथाओं के प्रति विद्रोह की आवाज उतनी अधिक नहीं उठाई जितनी दिनकर ने। उनके काव्य में यह स्वर काफी प्रबल होकर अभिव्यक्त हुआ है। इस दृष्टिकोण से उन्हें एक संतुलित प्रगतिवादी कहा जा सकता है ।

प्रगतिवादी दर्शन उनके काव्य 'कुरुक्षेत्र' में स्पष्ट परिलक्षित किया जा सकता है। कई आलोचक तो इस काव्य के सप्तम् सर्ग को पूरी तरह साम्यवाद से प्रभावित मानते हुए दिनकर को भी प्रगतिवादी मानते हैं, जबकि यह नहीं है। 'कुरुक्षेत्र' द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखा गया काव्य है। इसमें कवि ने अन्याय के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति की माँग अवश्य की है। पर वह अपनी भारतीय संस्कृति की गरिमा को भुला नहीं बैठता, बल्कि उसके ही आलोक में वे साम्यवाद का समर्थन करते हुए नये भारत के निर्माण की आकांक्षा करते हैं। उनके समक्ष

पहले राष्ट्रीयता है फिर अन्तर्राष्ट्रीयता, स्वतंत्रता के पश्चात् ही कवि विश्व-बंधुत्व की बात करता है। यह ठीक है कि उसके विचार इस काव्य में क्रान्ति से प्रभावित अवश्य हैं, पर क्रान्ति, अनल ये तो उसके प्रारंभिक काव्यों में भी थे और अनल व युद्ध-दर्शन तो अनेक काव्यों का मूल स्वर है ।

वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता, वर्गहीन समाज की स्थापना पूंजीवादियों और पूंजीवाद का उन्मूलन तथा सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता यदि समाजवाद की आवश्यक शर्तें हैं, यह बात अन्तर्राष्ट्रीय रूप में स्वीकार की गयी है। पर हर देश की संस्कृति की अपनी मूल चेतना भी उसकी राजनैतिक मान्यताओं का स्वरूप निश्चित करने वाला होता है। भारतीय संस्कृति पश्चिमीसंस्कृति से इस विषय में बिल्कुल भिन्न है। जहाँ पश्चिमीसंस्कृति हिंसा को सामाजिक मामलों में न्याय पाने का माध्यम स्वीकार करती है। वहाँ भारतीय संस्कृति समाज के अनेक वर्गों को स्वीकार करके सामाजिक प्रेम की अनिवार्यता को मानती है । सत्य, प्रेम, अहिंसा का नारा गांधी जी ने ही नहीं उठाया और न ही उसे केवल बुद्ध, अशोक और हर्ष का ही आशीर्वाद मिला बल्कि यह तो भारतीय संस्कृति के मन:प्राण में समा चुका है और उसे जब भी जिसने उठाया तो यही कहा जा सकता है कि उसने भारतीय संस्कृति की प्रेरणा पाकर ही ऐसा किया । इसलिए भारतीय वर्ण-व्यवस्था के मूल में इन सिद्धान्तों को बिना समझे, युगों पुरानी संस्कृति को मिटाकर एकदम नुस्खा देने की भावना एक व्यर्थ का उत्साह मात्र ही गिनी जा सकती है ।[३२] दिनकर यह बात अच्छी तरह समझते थे । इसलिए समाजवाद को उन्होंने इसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ग्रहण किया । वे गांधी के राजनैतिक रूप से भले ही प्रभावित न हों पर गांधीवाद के चारित्रिक आदर्शों को उन्होंने पूरी मान्यता दी है ।

'कुरुक्षेत्र', 'परशुराम की प्रतीक्षा' तथा उनके अन्य काव्यों में अन्यायपूर्ण

दमन के विरुद्ध, विदेशी शासकों के विरुद्ध, पूंजीपतियों के विरुद्ध, सामाजिक समता का स्वर उभरा है। इसे किसी वाद से प्रभावित न मानकर समय की माँग या पुकार कहा जा सकता है। इसे एक दृष्टि से प्रगतिशीलता भी कह सकते हैं। यदि उसका अर्थ किसी वाद से जुड़ा हुआ न हो तो। दिनकर राजनीतिक आग्रह से ग्रस्त हो प्रगतिवाद को कभी ग्रहण नहीं करते। उन्होंने पूंजीवाद को नष्टकर मानव मात्र की समानता और एक प्रकार से आध्यात्मिक साम्यवाद का समाज में विकास चाहा है। वे धर्म व विज्ञान, अतीत व वर्तमान को सामंजस्य चाहते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि मार्क्सवादी लेखक हुए बिना भी प्रगतिशील लेखक होना संभव है जैसा कि डॉ० सन्तोषकुमार तिवारी का मत है कि उन्होंने युग धर्म व युग बोध के अनुरूप जीवन के सभी पक्षों में अपनी प्रगतिशील चेतना का पूरा परिचय दिया है।[33] यह जीवन दर्शन भारतीय राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिणाम कहे जा सकते हैं।

(घ) युद्ध-दर्शन :

दिनकर जी हिन्दी साहित्य में ऐसे प्रथम कवि हैं जिन्होंने युद्ध की समस्या को उठाकर उसके पक्ष-विपक्षों पर दृष्टि डालकर काव्य का प्रतिपाद्य बनाया। उनके लगभग समस्त काव्यों में यह युद्ध-दर्शन अभिव्यक्त हुआ है। 'कुरुक्षेत्र' में प्रतिपादित उनका युद्ध-दर्शन महत्त्वपूर्ण ही नहीं, उनके चिन्तन पक्ष को भी उजागर करता है। यद्यपि कुरुक्षेत्र का कथानक महाभारत का है, किन्तु उसकी समस्यायें आधुनिक युग की हैं। कवि उनका समाधान भी आधुनिक सन्दर्भों को दृष्टिपथ में रखकर करता है।

उनकी युद्ध-विषयक अवधारणा सर्वप्रथम 'कलिंग-विजय' नामक कविता में

व्यक्त हुई है, किन्तु उसमें अहिंसा का ही समर्थन है और वह बौद्ध या गांधीवाद की व्याख्या मानी जा सकती है। 'कुरुक्षेत्र' में प्रतिपादित युद्ध- दर्शन एक व्यापक फलक पर चिन्तन व विचारों की सुन्दर अभिव्यक्ति लेकर प्रस्तुत हुआ है। युधिष्ठिर व भीष्म दो पात्रों के माध्यम से युद्ध-शान्ति, हिंसा-अहिंसा, पाप-पुण्य, करुणा-दया, वीरता-कायरता, ईर्ष्या-द्वेष, घृणा-क्षोभ, न्याय-अन्याय, धर्म व नीति को स्पष्ट करके युद्ध को एक अनिवार्य आवश्यकता बताया है। युद्ध एक अनिवार्य विकार है और उसका उत्तर युद्ध से ही दिया जा सकता है क्योंकि उनके ही शब्दों में विषम रोग का उपचार मिष्ठान्न नहीं, तिक्त औषधि है -

रुग्ण होना चाहता कोई नहीं,
रोग लेकिन जब आ गया पास हो,
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या
शमित होगा नही वह मिष्ठान्न से।[34]

स्वत्व, धर्म और सम्मान की रक्षा के लिए जो युद्ध कियाजाता है, वह पाप नहीं होता। अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिए उठायी गयी तलवार में पुण्य की चमक होती है। अत्याचार सहना पाप है। त्याग, तप, करुणा, दया, क्षमा मनुष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार करते हैं। उसे मनुजत्व से देवत्व की ओर ले जाते हैं, लेकिन यह व्यक्ति धर्म हैं, युद्ध की स्थिति अपवाद है, किन्तु उनकी यह स्पष्ट धारणा है कि पशुबल का सामना करने के लिए केवल आत्मबल ही पर्याप्त नहीं है। उसे जीतने के लिएपराक्रम या भौतिक शक्ति अपेक्षित है।

कौन केवल आत्मबल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है ।
पाश विकता खड्ग जब लेती उठा
आत्म बल का एक वश चलता नहीं ।[35]

इसी प्रकार हारी हुई जाति को अहिंसा, दया, करुणा और क्षमा का कोई अर्थ नहीं है। पराजित की क्षमा घोर कलंक है। पराजित का धर्म है प्रतिशोध । खोये हुए आत्म सम्मान की पुन:. प्राप्ति ।[36] अन्याय और अधर्म का निराकरण युद्ध ही कर सकता है । उनका कहना है युद्ध की अभीष्ट प्राप्ति के लिए बुद्धि और भुजा का एक साथ चलना अनिवार्य है । तर्क-वितर्क करने पर युद्ध का परिणाम उचित कैसे रह सकता है तथा युद्ध-कालीन कर्तव्य के पालन में व्याघात पहुंचता है। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म बार-बार युधिष्ठिर को यही समझाते हैं -

जहां भुजा का एक पंथ हो, अन्य पंथ चिंतन का ।
सम्यक् रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्वग्रस्त जीवन का ।
द्विधा मूढ़ वह कर्मयोग से कैसे कर सकता है ?
कैसे हो सम्बद्ध जगत के रण में लड़ सकता है ।[37]

दिनकर जी ने युद्ध को मानव की जीवनगत चिरन्तन समस्या के रूप में ग्रहण किया है । यद्यपि वे 'कुरुक्षेत्र' में युद्धजनित प्रत्येक पक्ष पर विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं, परन्तु उन्होंने युद्ध का कारण बुद्धि के अतिचार में ढूँढ निकाला है। वे मानते हैं कि विश्व की विषमताओं का समाधान विज्ञान द्वारा संभव नहीं, अपितु स्नेह द्वारा ही किया जा सकता है ।

'कुरुक्षेत्र' के बाद 'सामधेनी' में कुछ रचनाएँ युद्ध सम्बंधी हैं। उनमें जवानी का भण्डा उड़ाकर खड़ा हो, मेरे देश के नौजवान', युद्ध सम्बंधी अभियान गीत है। 'सरहद के पार' व 'साथी' कविता में भी युद्धोचित ओज भरने की पूरी शक्ति है। 'नीलकुसुम' की रचनाओं में भी 'कुरुक्षेत्र' की मान्यताएँ ही हैं। जहाँ कवि 'हिमालय का संदेश' देकर अन्तर्राष्ट्रीयता व मानवतावाद की स्थापना करना चाहता है। 'नीलकुसुम' के बाद चीन के आक्रमण के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' में फिर वही युद्ध की अनिवार्यता को कवि के स्वर ने अभिव्यक्ति दी। 'जौहर', 'आज कसौटी पर गांधी की आग है', अहिंसावादी का युद्ध गीत', 'आपद्धर्म' में दिनकर जी का विचारक और दार्शनिक रूप ही मिलता है।' उनका दर्शन आकाश की ऊँचाई छूता हुआ भी पृथ्वी का आधार नहीं छोड़ता, जिस आधार के बिना दर्शन का अनुसरण करके त्रिशंकु की स्थिति ही हाथ आती है।[३८]

'जवाहरलाल' में गांधी, अशोक से विरासत में मिली हुई करुणा, दया तथा अहिंसा का समावेश है, पर यह सब युद्ध के प्रतिकार के लिए उपयोगी नहीं है, इसलिए वह युद्ध की माँग करते हैं। उनका कहना है कि मन और कर्म का असामंजस्य तब तक बना रहेगा, जब तक शौर्य हमारी सांस्कृतिक चेतना का एक अंग बनकर हमारी रग-रग में समा नहीं जाता।[३९] इसलिए कवि सबके सामने खुला समाधान रखते हुए राष्ट्र के सूत्रधार को जन-मानस की भीष्म प्रतिज्ञा और ज्वलित अंगारमयी भावनाओं से अवगत कराते हैं -

खड्ग सींचा जाता है - - - -
नहीं युद्ध में गंगा के जल की फुहार से
+ + +

दबा पुण्य का वेग, अंखडियाँ गीली मत होने दो ।
कसकर पकड़ कृपाण मुट्ठियाँ ढीली मत होने बने दे ।
ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप में मिलती है
पहरे पर जब स्वयं धनुर्धर राम खड़े होते हैं । [४०]

अन्त में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दिनकर ने भारत के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना उसके पूर्ण सैन्यीकरण में ही की है। उनके लिए राष्ट्र के सम्मान तथा संस्कृति की रक्षा का यही एक मार्ग है। एक हाथ में परशु और दूसरे में वेद लेकर ही भारतीयता की रक्षा की जा सकती है ।

४-ललित कलाएँ :

ललित कलाएँ भावाभिव्यक्ति के प्रभावशाली माध्यम होने के साथ-साथ किसी देश तथा काल की उच्चस्तरीय अभिरुचि, भावना तथा इसी कारण सांस्कृतिक परम्परा की परिचायक हुआ करती हैं। सामाजिक एवं जातीय चित्त-वृत्तियां कलात्मक अभिव्यक्ति में स्थान पाती हैं और कला की उन्नति से उस जाति या देश-विदेश की सांस्कृतिक उन्नति का पता चलता है । [४१] मानव में कला की शाश्वत चेतना होती है, अतः ललित कलाओं का आरम्भ सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ-साथ माना गया है। डा० श्रीराम मेहरोत्रा के शब्दों में -"जब से मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर समूहगत स्वार्थ की बात सोचने लगा तभी से उसमें जीवन के प्रति लालित्य जागृत हुआ । इसी लालित्य-बोध की भावना को महत्त्वपूर्ण आकार की अभिव्यक्ति प्रदान करने के

प्रयास ने कला को जन्म दिया।[४२] इसके साथ ही कला-संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण कर स्वयं संस्कृति का अंग बन जाती है और उसी प्रकार सामाजिक स्वीकृति को आत्मसात् कर लेती है, जिस प्रकार धर्म, इतिहास, राजनीति आदि संस्कृति के अनिवार्य अंग समाज को आत्मसात् किये रहते हैं ।

दिनकर के काव्य में ललित कला विषायक निर्देश नहीं मिलते ।कला विषायक दृष्टिकोण उनकी निम्नलिखित कविताओं में अवश्य प्रस्तुत हुआ है :-

१- कला - हारे को हरिनाम(संग्रह)

२- कला और कर्तव्य- कोयला और कवित्व(संग्रह)

३- कोयला और कवित्व -(कोयला और कवित्व, संग्रह)

दिनकर जी इस बात के समर्थक हैं कि कला जीवन की एक रमणीय अभिव्यक्ति बनकर रहे और वह व्यक्ति के निजी सुख-दु:ख की अभिव्यक्ति न बनकर सामूहिक जीवन के प्रति संवेदनशील हो ।[४४] कलाकार की सर्जन प्रक्रिया में वे सच्चे कलाकार को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत मानता है, स्थूल अभिव्यक्ति मात्र नहीं।[४५] `कला और कर्तव्य` शीर्षक कविता में कवि का यही दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है, किन्तु उसके साथ ही कवि कला की सोद्देश्यता का भी समर्थक है । `रेती के फूल` नामक निबंध संग्रह में उनका एक निबंध `कला धर्म और विज्ञान` पर है, जिसमें कवि ने कला की उपयोगिता को उसके महत्त्व को ही बताया गया है। उनका कहना है `कला की प्रत्येक कृति किसी न किसी मूल्य का प्रचार करती है, जैसे गुलाब और कमल के खिलने से उनकी गंध का प्रचार आप ही आप होने लगता है---

कला में गंध चाहे जिन मूल्यों की भी आये, किन्तु मूलत: वह स्वयं जीवन के एक महान् मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है और अन्य मूल्यों का प्रचारक मात्र बन जाने से कला उस तत्त्व से कुछ-कुछ विमुक्त हो जाती है, जिसके कारण वह स्वयं मूल्यवान है।[४६] कवि का यही दृष्टिकोण उनके 'कोयला और कवित्व' शीर्षक कविता में परिपूर्ण भाव-संभार के साथ प्रस्तुत हुआ है- कवि मनुष्य और पशु में इस बात का अन्तर देखता है कि पशुता जीवन की उपयोगिता को देखती है और मनुष्यता में सौन्दर्य- बोध और उसके प्रति संवेदना है, वह सौन्दर्य-बोध ही कला का मूल उत्स है -

इन्द्रधनुष तारे, हरीतिमा और गुप्त जगती वह।
जो अदृश्य में उड़ने का आमंत्रण भेज रही है।
ये सब ही, है त्याज्य क्योंकि इसका उपयोग नहीं है ?
खा-पीकर सो जाय, इतना ही मनुज नहीं है।
निद्रा के वन में भी वह सपना देखा करता है।
उन अभुक्त छवियों का जो जीवन में नहीं मिली हैं।
या उनका जो दौड़ रही हैं अभी रक्त कण में
अनाख्यात , अव्यक्त, राह देखती हुई भाषा की।[४७]

दिनकर जी आगे भी कला-चेतना को काव्याभिव्यक्ति ही मानते हैं। यद्यपि जैसा कि हम लक्ष्य कर चुके हैं कि दिनकर के काव्य में श्रमिक-मजदूरों के प्रति गहरी संवेदना है तथापि वे कलात्मक अभिव्यक्ति की सीमा यहीं तक नहीं मानते। वे मनुष्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के मूल उद्देश्य में निरुद्देश्य आनन्द के पान की सहज तृषा को स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे 'कला के लिए'

के आदर्श को भी स्वीकार करते हैं। प्रमाण स्वरूप निम्नलिखित काव्य पंक्तियाँ यहाँ उल्लेखनीय हैं -

जहाँ गीत श्रमिकों की श्रुतियों में रस बरसायेंगे ।
नहीं मात्र इस हेतु, काम से वे थक कर आये हैं ।
मन और श्रान्ति को मिटा काम पर फिर उनको जाना है,
पर इसीलिए कि वे मनुष्य हैं और सभी मनुजों में,
निरुद्देश्य आनन्द पान करने की सहज तृषा है ।[४८]

कला के सर्वविश्रुत सिद्धान्त आनन्द की अभिव्यक्ति से दिनकर भी सहमत हैं। इसीलिए वे सिद्धों के गीत में श्रम और संघर्ष को ही नहीं देखते, अपितु मुदिता, आनन्द और पुलक को प्रधानतया मानते हैं। वे मानते हैं कि सूर्य अंधकार को नष्ट करने के लिए नहीं उगता, वायु स्थान विशेष पर नहीं बहती, पुष्प इस उद्देश्य से नहीं खिलते कि उन्हें बालों में गूँथना है या मंदिर में चढ़ना है बल्कि इन प्राकृतिक उपकरणों के ये सभी कृत्य निरुद्देश्य होते हैं और उनकी मूल चेतना की अभिव्यक्ति मात्र है । कवि के अनुसार कला की ठीक यही स्थिति है । (देखिये कोयला और कवित्त्व कविता) यही कारण है कि दिनकर के अनुसार सच्चे कवि कर्म के माध्यम से अन्तर का आनन्द ही फूटता है -

पर सारा अस्तित्व प्राण तन-मन सब लग जाते हैं।
तभी कर्म के भीतर से आनन्द फूट पड़ता है ।[४६]

इसीलिए उसकी घोषणा है सच्चा कलाकार अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति में निजी अस्तित्व घुला-मिला देता है और ऐसी स्थिति में वह श्रमिक न होकर स्रष्टा बन जाता है -

कला कर्म का चरम रूप है, जिस एकान्त लगन से
कलाकार अपनी रचनाओं में खोया रहता है ।
वही आत्म विस्मृति मिलती है कहां अन्य कर्मों में
और मिले भी तो वह मनुष्य भी श्रमिक नहीं, स्रष्टा है ।

\+ + +

रचना का आनन्द निर्झरों सा झरने लगता है
श्रम हो जाता सृजन, श्रमिक तब स्रष्टा बन जाता है ।[५०]

यह उल्लेखनीय है कि 'कला कला के लिए' है' मानकर भी वे उसे जीवन से परे नहीं मानते -

कला नहीं वह फेन, हवा में जो उड़ता फिरता है।
डरा हुआ, सूखी जमीन की धूलों से, ज्वाला से ।[५१]

वे कला को जीवन की स्वीकृति मानते हुए उसके एक-एक पक्ष का स्पन्दन मानते हैं। अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दिनकर कला को एक ऐसा सर्जन मानते हैं, जिसमें जीवन की आधार भूमि का पूरा-पूरा महत्त्व है, किन्तु उसके लिए वे सोद्देश्यता के बंधन को स्वीकार नहीं करते ।

५- इतर सांस्कृतिक पक्ष :

दिनकर के काव्य में उपर्युक्त जीवन-दर्शनों के अतिरिक्त संस्कृति के कुछ सामान्य पक्ष रह जाते हैं जिनको जीवन- मूल्यों के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है । अत: सांस्कृतिक मूल्यांकन के दृष्टिकोण से यहाँ पर उनकी संक्षिप्त व आवश्यक चर्चा प्रस्तुत की जा रही है ।

दिनकर के काव्य में जीवन मूल्य :

डॉ० नगेन्द्र ने मूल्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि-"मूल्य उस गुण या गुण समवाय का नाम है, जो किसी पदार्थ की, अपने लिए, प्रमाता के लिए अथवा अपने परिवेश के लिए, सार्थकता का निर्धारण करता है।"[५२] मूल्य शब्द पदार्थ के आंतरिक गुण का वाचक है, जिसके कारण लोक-जीवन में उसका महत्त्व या मान होता है। मूल्य, जीवन, परिवेश, आत्म-तत्त्व, समाज और संस्कृति तथा इनसे परे आदर्श मानव अस्तित्व एवं अनुभव के अतिशय आयाम से उत्पन्न होते हैं, मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र जो मूल्य की चर्चा करते हैं, मूल्य को वरीयता, घृणा, आकांक्ष्य लक्ष्य, संवेग और अभिरुचि के रूप में परिभाषित करते हैं, मानव-विधा उन्हें क्रियाशील आदेश और वस्तु के रूप में परिभाषित करती है। सांस्कृतिक, नृतत्वशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय अध्ययनों ने मूल्य तत्त्व सम्बंधी हमारे ज्ञान को बहुत अधिक बढ़ाया है। इन सबने मूल्य के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक आदि पक्षों को प्रकाशित किया है। मूल्यों के सम्बंध में अनेक पौर्वात्य व पाश्चात्य विद्वानों ने विस्तृत व्याख्या की है। उन सबका न तो यहां विश्लेषण ही कियाजा सकता है और न वह हमारे अध्ययन के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण ही है। अत: यहाँ पर उतनी ही चर्चा की जाएगी, जिसका दिनकर के काव्य से सम्बंध है।

धर्म मानव-कल्याण के लिए होता है। धर्म अन्तत: नैतिकता की ओर ले जाता है। कल्याण अथवा मंगल का दूसरा अर्थ भौतिक समुत्कर्ष है। भौतिक समुत्कर्ष आर्थिक और सामाजिक मूल्य का परिचायक है। दिनकर के काव्य में इन सामाजिक और आर्थिक मूल्यों पर बहुत कुछ लिखा गया है, जो कि उनके काव्य की प्रमुख चेतना है। अर्थ-समता व सामाजिक-मूल्यों को उन्होंने अपने काव्य में

स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति दी है, उनका समस्त काव्य ही लोक-मंगल की भावना को लक्ष्य करके चला है। विश्व-बंधुत्व व मानवता इसी कल्याणकारी मूल्यों की चरम अभिव्यक्ति है । उपर्युक्त सामाजिक व आर्थिक मूल्यों के अतिरिक्त कल्याण को और भी दो अर्थों में लिया जा सकता है- सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक । सांस्कृतिक अर्थ मूलत: नैतिक मूल्यों पर आधृत है, किन्तु ये नैतिक मूल्य व्यावहारिक उपयोगिता तक ही सीमित न रहकर चेतना के परिष्कार तथा व्यक्तित्व के विकास पर अधिक बल देते हैं । 'रश्मिरथी' काव्य में कर्ण के चरित्र में इसी नैतिक वैयक्तिक मूल्य की अभिव्यक्ति हुई है । सांस्कृतिक मूल्यों का लक्ष्य वृत्तियों का उन्नयन एवं संस्कार भी है। मनोवैज्ञानिक अर्थ में कल्याण अन्तवृत्तियों के समंजन का द्योतन कराता है। जिसमें जितनी अधिक अंतवृत्तियों के समंजन की शक्ति होती है। वह उतना ही अधिक कल्याणकारी और मूल्यवान होता है । मनोवैज्ञानिक मूल्य प्रीतिकर होने पर रागात्मक मूल्यों में और कल्याणकारी होने पर सांस्कृतिक मूल्यों में समाहित हो जाते हैं ।

डा० नगेन्द्र ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

१-आनन्दवादी मूल्य - आध्यात्मिक, सौन्दर्यमूलक, बौद्धिक, रागात्मक तथा शारीरिक ।

२- कल्याणवादी मूल्य- सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक-सामाजिक ।[५३]

इन समस्त मूल्यों में सांस्कृतिक मूल्य सौन्दर्यमूलक मूल्य अपने में समाविष्ट किये रहते हैं। समस्त कलाओं का सहज अन्तर्भाव संस्कृति में होता आया है। अत:

सांस्कृतिक मूल्य सौन्दर्यमूलक मूल्य से विच्छिन्न नहीं हैं । दिनकर के काव्य में जिन मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है, वे निम्नलिखित हैं -

१-सामाजिक- मूल्य :

ये मूल्य सामाजिक संपर्क और चरित्र से सम्बंधित हैं। मैत्री, प्रेम, करुणा, सद्गुणों का विकास आदि प्रवृत्तियों में सामाजिक मूल्य निहित हैं। ये मूल्य उच्च होते हैं क्योंकि ये मूल्य मनुष्य को आध्यात्मिक मूल्यों की ओर प्रेरित करते हैं तथा व्यक्ति को उसकी संकुचित परिधि से ऊपर उठाकर समष्टि की ओर प्रेरित करते हैं। ये वस्तुत: उत्पादक मूल्य हैं- इनसे गुणों का उत्तरोत्तर विकास होता है, जिससे समाज में नवीन वातावरण की निर्मिति संभव हो पाती है। 'रश्मिरथी' में कर्ण मैत्री का अनन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है । इसी प्रकार 'उर्वशी' के प्रेम व 'कुरुक्षेत्र' में युधिष्ठिर की करुणा व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। यहाँ सामाजिक मूल्यों की अभिव्यक्ति विस्तृत फलक पर हुई है ।

सामाजिक जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति के विचार से उनके 'रश्मिरथी' प्रबंध काव्य तथा 'परशुराम की प्रतीक्षा' की कुछ कविताओं को लिया जा सकता है। हम यह लक्ष्य कर चुके हैं कि रश्मिरथी का नायक जन्म के आधार पर व्यक्ति की श्रेष्ठता को चुनौती देकर गुण या पराक्रम के आधार पर ~~व्यक्ति की श्रेष्ठता को चुनौति देकर प पर व्यक्ति की श्रेष्ठता को चुनौ~~ पर अधीष्ठित करता है। इस दृष्टिकोण के कारण सामाजिक जीवन-मूल्यों में उदात्तता का सन्निवेश किया जा सकता है । क्योंकि जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने उत्थान का समुचित अवसर मिलेगा तो समाज भी उन्नतिशील होगा और और समाज के घटक के रूप में व्यक्ति को आत्मोत्थान की प्रेरणा प्राप्त होगी ।

यह कहा जा सकता है कि इससे एक संतुलित सामाजिक जीवन-दृष्टि विकसित होती है। उसके अभीप्सित आलोक में सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की जा सकती है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' की कुछ कविताओं में आर्थिक विषमता और शोषण पर जो तीखी चोटें की गयी हैं [५४] वे सामाजिक सामंजस्य के जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा करती हैं।

यह हम लक्ष्य कर चुके हैं कि यह मूल्य-दृष्टि साम्यवाद से प्रेरित न होकर भारतीय संस्कृति की सामाजिक साम्य की विकासवादी और युगानुरूप चेतना से अनुप्राणित है। सामाजिक तथा व्यक्ति जीवन-मूल्यों का एक पक्ष उनके 'कुरुक्षेत्र' काव्य में भी है और यह है पीड़ित-पददलित अवस्था में पौरुष की जागृति। पूर्ववर्ती पृष्ठों में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि वे पशुता का सामना शक्ति से ही करने के पक्षपाती हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहा जाय तो वे दबाव, हिंसा, शोषण के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति के प्रबल समर्थक हैं, जो प्रकारान्तर से सड़े- गले जीवन-मूल्यों में आमूल क्रान्ति और विध्वंस का परिचायक है।

२- आध्यात्मिक मूल्य :

मनुष्य में धार्मिक, बौद्धिक और सर्जनात्मक प्रवृत्ति होती है। इन प्रवृत्तियों से जो मूल्य प्राप्त होते हैं। उन्हें आध्यात्मिक मूल्य कहा जाता है। ये मूल्य ऐसे हैं जो मानव-मात्र के ज्ञान की समृद्धि में सहायक होते हैं तथा जिनसे कल्याण अथवा मंगल की भावना का उदय होता है। इस प्रकार ये मूल्य समग्र मानव-जाति के कल्याण को विशेष रूप से अपने भीतर समाविष्ट किये हुए हैं। व्यक्ति के स्तर पर भी इनका विशिष्ट महत्त्व है। आनन्दवाद की प्रतिष्ठा भी इस मूल्य

के अन्तर्गत आती है । दिनकर ने `उर्वशी` तथा `हारे को हरिनाम` में आध्यात्मिक मूल्यों की संक्षिप्त चर्चा की है । देखा जाय तो अध्यात्म की चर्चा उनके काव्य में अत्यल्प ही है, किन्तु जो भी एतद् विषयक निर्देश आते हैं वे यथार्थ की भूमि से जुड़े हुए हैं। वे आदर्श की उस ऊँचाई का गमन करने के पक्षधर नहीं हैं, जो यथार्थ की धरती से अपना सम्पर्क छोड़ देती है -

तुम्हारा कुसूर यह है
कि तुम बड़ी ऊँचाई
पर चले गये हो,
बादल में छिपे पक्षी के समान
तुम्हें देखना भी मुहाल है । ५५

यह उल्लेखनीय है कि `उर्वशी` में कामाध्यात्म की अवतारणा का जो दावा किया गया है, उसकी आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों से संगति नहीं बैठती । इस पर हम विस्तार से विचार कर चुके हैं । `हारे को हरिनाम` कविता में आध्यात्मिकता को ओढ़ा ही गया है, उसे कोई मूल्य अभिवृति नहीं कहा जा सकता ।

३- नैतिक-मूल्य :

नैतिक मूल्य नीति से सम्बंधित मूल्य है । नैतिकता व्यक्ति को सामाजिक घटक के रूप में कर्तव्य-कर्मों का बोध कराती है। नैतिक शब्द मुख्यत: कर्म एवं शील का विशेषण है। कर्म और शील के विषय में सत् और असत् का विवेचन ही नैतिकता का मुख्य प्रश्न है। (विवेक -बुद्धि का स्वतंत्र्य ही तदनुसारी संकल्प की नैतिकता है) मनुष्य का नैतिक जीवन उसकी आत्मनिहित पूर्णता को चरितार्थ करने की

साधना है । आदर्श को संकलित करना नैतिकता का मर्म है ।[५६] इस प्रकार यदि दृष्टिगत किया जाय तो `दिल्ली`, `कुरुक्षेत्र`, `नीलकुसुम`, `परशुराम की प्रतीक्षा` आदि रचनाओं में नैतिक मूल्यों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । `कुरुक्षेत्र` में कवि कर्म की नैतिकता को इस प्रकार प्रस्तुत करता है -

कर्मभूमि है निखिल महीतल,
जब तक नर की काया
जब तक जीवन के क्षण- क्षण
में कर्तव्य समाया ।
क्रिया कर्म को छोड़ मनुज
कैसे निज सुख पावेगा
कर्म रहेगा साथ भाग
वह जहाँ कहीं जायेगा ।[५७]

`सीपी और शंख` में मंत्रियों की अनैतिकता पर व्यंग्य करते हुए दिनकर आज के नैतिक मूल्यों की प्रस्तुति करते हुए लिखते हैं -

छीन ली मंत्रीगिरी तो घूस को भी रोक दो ।
अब `करप्शन` किसलिए, मैं ही न जब मालिक रहा ।[५८]

इसी प्रकार उनकी दिल्ली में `संकलित रचनाएँ भी आधुनिक जीवन के नैतिक मूल्यों की विकृति पर करारा प्रहार करती हैं, जो एक प्रकार से नैतिक मूल्यों ~~की विकृति पर क -की विकृति~~ का समर्थन है । `नीम के पत्ते` की नेता कविता भी ~~नैकि~~ नैतिक मूल्यों की स्थापना करने के लिए अच्छे कर्मों की प्रेरणा

देती हुई प्रतीत होती है । हमारे देश की नैतिकता पतन के गर्त में कितनी गिर चुकी है । सामाजिक विकृतियों में दिनकर ने इसे तीखे व्यंग्य से 'एनार्की' कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है -

'अरे-अरे दिन दहाड़े ही जुल्म ढाता है ।
रेलवे का स्लीपर उठाये कहाँ जाता है ?'
'बड़ा बेवकूफ है, अजब तेरा हाल है ।
तुझे क्या पड़ी है ? 'ये' तो सरकारी माल है ।[५६]

अत: निष्कर्षत: यह लक्ष्य किया जा सकता है कि कवि दिनकर के काव्यों में नैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति तो हुई है पर वह व्यंग्य के माध्यम से प्रस्तुत होती है। कवि नैतिकता की स्थापना के लिए व्यग्र है । उसके लिए वह अपनी संस्कृति के पुराने नैतिक मूल्यों को अपने काव्य का माध्यम बनाकर आधुनिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करके भविष्य के लिए सुखद आशा करता है ।

४-राजनीतिक मूल्य :

अराजकता का शमन, विधि-नियम के अनुसार व्यवस्था, व्यवस्था के लिये शक्ति प्राप्ति आदि राजनीतिक मूल्यों के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। दिनकर जी मूलत: राष्ट्रीय कवि हैं, परन्तु उनकी राष्ट्रीयता राजनीति से स्पर्श न करती हो, ऐसा संभव नहीं था। षष्ठ अध्याय के अंतर्गत उनकी राष्ट्रीय व राजनीतिक चेतना

पर विस्तार से कहा जा चुका है । स्वत्व प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी चेतना व ओज ही उनके काव्य का प्रतिपाद्य रहा है। यह द्रष्टव्य है कि स्वतंत्रता के पूर्व उनकी राजनीतिक चेतना विदेशी शासन के प्रति विद्रोह पर केन्द्रित थी। किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् की अधिकांश राजनीतिक चेतना आर्थिक प्रगति को केन्द्र में रखकर चली है। इसके अपवाद स्वरूप बीच में होने वाले पाकिस्तान और चीन के साथ युद्धों की प्रतिक्रिया कही जा सकती है । इन अवसरों पर सुरक्षा और स्वतंत्रता की चेतना नये रूप में उभरी है । आज प्रत्येक राजनीतिक दल अर्थ - व्यवस्था को केन्द्र में रखकर चलता है। दिनकर की कविताओं में आर्थिक विषमता पर जो बार-बार चोट की गयी है और शासक वर्ग को चेतावनी दी गयी है। वह इस बात का द्योतक है कि आर्थिक समस्या के विश्लेषण के माध्यम से कवि राजनीतिक जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा का आकांक्षी है। यह द्रष्टव्य है कि स्वतंत्रता के बाद कवि की राजनीतिक चेतना परिवर्तित होकर संतुलित जीवन-मूल्यों का सामंजस्य करती है। जीवन भर गांधी को अंगारों से पूजने वाला कवि 'परशुराम की प्रतीक्षा' में गांधी की अहिंसा को नकारता नहीं, बल्कि परशुराम के आगमन का आह्वान करके ये पंक्तियाँ कहता है -

गांधी गौतम का त्याग लिये आता है ।
शंकर का शुद्ध विराग लिये आता है ।
सच है आँखों में आग लिये आता है
पर यह स्वदेश का भाग लिये आता है ।[६०]

\+ + +

सकुच गये यदि हम अहिंस्त्र
हिंसा के हाहाकार से ।
कौन बचा पायेगा,
गांधी को पशुओं की मार से ।[६१]

उपर्युक्त मूल्य-विश्लेषण के सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि मनुष्य की अर्जित योग्यता एवं उसकी अभिरुचि के अनुसार अनुशासन में जो कुछ निर्मित होता है। वह सब संस्कृति के आयामों में आ जाता है तथा उसकी समस्त विशेषताएँ मूल्य के अंतर्गत आती हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मूल्यों के जितने प्रकार हैं वे सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति ही है ।

५-सांस्कृतिक परिवेश : आस्थाएँ और मान्यताएँ :

दिनकर ने मूल्य और परिवेश के सम्बंध में अपने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, उनकी यहाँ पर संक्षिप्त चर्चा की जा रही है। उनका कहना है `परिवेश वह वातावरण है, जिसमें साहित्य लिखा जाता है और मूल्य वे नैतिक मान्यताएँ हैं, साहित्य जिनका समर्थन या विरोध करता है।[६२] प्रत्येक युग का परिवेश उस युग की समस्त परिस्थितियाँ चतुर्दिक वातावरण और परंपरा के आधार पर बनता है । परिवेश काल का अंश है और परिवर्तनशील है। वह नित्य का सनातन नहीं होता। परिस्थितियाँ, जन-जीवन, मान्यताओं, परम्पराओं, रीतियाँ, आस्था और विश्वास में परिवर्तन आने के परिणामस्वरूप मूल्यों में भी परिवर्तन आता है । कारण स्पष्ट है। मूल्य आचरण के सिद्धान्तों को कहते हैं। ~~मगर~~ मूल्य वे मान्यताएँ हैं, जिन्हें मार्गदर्शक ज्योति मानकर सभ्यता चलती रही है और जिनकी उपेक्षा करने वालों को परम्परा अनैतिक, उच्छृंखल या बागी कहती है ।[६३]

परिवेश का कवि की सर्जना पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। दिनकर ने इस सम्बंध में कहा है कि कवित्व पौधा है, परिवेश और मूल्य ऋतुओं के समान हैं ।

विशेष प्रकार के परिवेश और मूल्यों के अधीन भी रचित साहित्य सभी परिवेश व मूल्यों का स्पर्श करता है। कोई भी कलाकार वास्तविकता को पूरी तरह बर्दाश्त नहीं करता। उसकी सर्वथा उपेक्षा भी किसी कलाकार के लिए संभव नहीं है। कला काल से जन्म लेकर काल का अतिक्रमण करती है। सौन्दर्य- बोध मूल्य हैं और कला के प्रसंग में मूल्य काल से बड़ा दिखायी देता है। असल में मूल्य भी काल का ही अंग है और जब काल का प्रभाव पड़ने लगता है, तब साहित्य पर उस युग के मूल्य का भी प्रभाव साथ-साथ पड़ता है।[६४]

आस्थाओं और मान्यताओं की दिनकर के काव्य में अभिव्यक्ति के संदर्भ में स्वतंत्र-रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनके काव्य की विषय-वस्तु ऐसे व्यापक धरातल की नहीं है, जिसमें इनकी सम्यक् विवृति हो सकती थी। हां, सांस्कृतिक परिवेश को कविताओं में लक्ष्य किया जा सकता है। 'प्रणभंग', 'पाटलिपुत्र की गंगा', 'हिमालय', 'तांडव', 'हिमालय का संदेश', 'उर्वशी' आदि कविताएँ यद्यपि पौराणिक कथानकों या ऐतिहासिक सन्दर्भों पर आधारित हैं, किन्तु उनकी ये कविताएँ प्राचीन जीवन- मूल्यों को बदलते हुए आधुनिक जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में प्रस्तुत कर हमारे प्राचीन सांस्कृतिक परिवेश का दृश्य सम-सामयिक युग में भी उपस्थित कर देते हैं।

मूल्यांकन :

उपर्युक्त समग्र विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दिनकर के काव्य में जीवन-दर्शन तथा जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति तो हुई है, पर वे जीवन की संपूर्णता को लक्ष्य में लेकर नहीं चली है, वरन् जीवन के एकांगी पक्षों का ही

निरूपण करती हैं। सामाजिक, आर्थिक व राष्ट्रीयता उनके काव्य के केन्द्र बिन्दु रहे हैं और उनकी कविता भी इसी केन्द्र की परिधि में घूमती रहती है। इसके अतिरिक्त यदि उन्होंने जीवन के किसी और पक्ष पर अपनी लेखनी उठाई है तो वहां उन्हें सफलता नहीं मिली है। `रसवंती`, `उर्वशी` की कविताएँ इस बात की सप्रमाण व्याख्या प्रस्तुत करती हैं ।

संस्कृति के इतर पक्षों की दृष्टि से विचार किया जाय तो दिनकर की कामाध्यात्म विषयक चर्चा एक विवाद का विषय रही है। संस्कृति सामाजिक जीवन की रुचि-अभिरुचि और मान्यताओं को भी प्रकाश में लाती है। `उर्वशी` में प्रस्तुत कामाध्यात्म वस्तुतः स्वयं कवि की रुचि और मान्यताओं की द्योतक कही जा सकती है, जिस पर हम विस्तार से विचार कर चुके हैं। वैसे काम-विषयक आधुनिक जीवन दृष्टि के संदर्भ में बिना अध्यात्म के आवरण के भी काम और प्रेम की सार्थकता को आज की वस्तुस्थिति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। काम-विषयक आज का मनोविज्ञान उसकी यथार्थता और व्यापक क्षमता का समर्थक है। ऐसी चेतना ने यदि परोक्ष रूप से दिनकर के हृदय और मस्तिष्क को प्रभावित किया होगा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। दिनकर के काव्य में प्रस्तुत कर्म सिद्धान्त और नैतिकता वस्तुतः भारतीय चिन्ता-धारा के सर्वथा अनुरूप हैं, इसमें वे समन्वयवादी दृष्टिगोचर होते हैं ।

दिनकर का यथार्थवादी व प्रगतिवादी दर्शन विशेषकर समाज-व्यवस्था और व्यक्ति की ऊर्ध्वगामी चेतना के सन्दर्भ में प्रस्तुत हुआ है। निश्चय ही यह प्रस्तुतीकरण जितना इतिहास-बोध से जुड़ा है उतना सम-सामयिक जन-जीवन की

स्वांसों का भी आकलन करता हुआ चलता है, यही ऐतिहासिक अवबोध उनके युद्ध-दर्शन में भी है, जो केवल राजनैतिक संघर्ष को ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु सामाजिक पक्ष को भी स्पर्श करता है। वे इस दर्शन के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि किसी भी महान सिद्धान्त के पीछे शक्ति का होना आवश्यक है। सम-सामयिक जीवन-मूल्यों की दृष्टि से जीवन-मूल्यों की दृष्टि से दिनकर के काव्य में कुछ अधिक साक्ष्य मिलते हैं। इनमें भी इतिहास का अवबोध है। किन्तु यह ऐतिहासिक अवबोध युग जीवन की यथार्थता को दबाता या आवृत्त नहीं करता, अपितु युगीन व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। अत: यह कहा जा सकता है कि जिस सांस्कृतिक पुनर्जागरण को वे अपने निजी चिन्तन या सामाजिक जीवन दृष्टि से नया मोड़ देते हैं। इसमें भारत कीसांस्कृतिक धारा और नवागत मार्क्स-वादी आर्थिक चिन्तन दोनों का समन्वय है, किन्तु यह समन्वय राष्ट्रीयता की सुदृढ़-समतल भूमि पर प्रतिष्ठित है।

--

सन्दर्भ - संकेत :

१- शिवदत्त ज्ञानी, भारतीय संस्कृति, पृष्ठ-१७२

२- दिनकर, वटपीपल, पृ० ६५

३- डा० छोटेलाल दीक्षित, दिनकर सृष्टि और दृष्टि- पृ० १८

४- दिनकर,वट पीपल, पृ० ६४

५- वही, नीलकुसुम, पृष्ठ-५२,शीर्षक-अशब्द ।

६- Aurobindo, Foundation of Indian Culture,Page-137,Heading-Spritual aim of Indian Culture.

७- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,पृ० ५३८

८- डा० मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिंदी काव्य में भारतीय संस्कृति, शीर्षक-अध्यात्म,पृ० ५४

९- प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार,वैदिक संस्कृति के मूल तत्व, पृ० २८४

१०- दिनकर, उर्वशी, पृ० ६७

११- सं०डा० वचनदेवकुमार,उर्वशी विचार और विश्लेषण, लेखिका- सावित्री सिन्हा,शीर्षक-उर्वशी का प्रतिपाद्य विषय तथा सन्देश, पृ० ५२

१२- द्रष्टव्य- वही, पृ० ५३

१३- वही, लेखक,डा० विजेन्द्रनारायण सिंह-उर्वशी : अध्यात्म की कविता, पृ० १५२

१४- द्रष्टव्य- पृ० १५३

१५- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० क्रान्ति की गंगा में शैवाल ।

१६- कल्पना अंक, १४७, जनवरी ६४, लेखक-गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ०३५, शीर्षक: उर्वशी: दर्शन और काव्य

१७- सं० डा० वचनदेव कुमार, उर्वशी विचार और विश्लेषण, ले० डा० नगेन्द्र, शीर्षक-उर्वशी : कला और विचार बोध, पृ० २०-२१

१८- दिनकर, उर्वशी, पृ० ६८

१६- कल्पना, लेखक- गजानन माधव मुक्तिबोध, शीर्षक-उर्वशी : दर्शन और काव्य, पृ० ३६

२०- दिनकर, उर्वशी, भूमिका, पृ० (ज)

२१- कल्पना, गजानन माधव मुक्तिबोध

शीर्षक- उर्वशी, दर्शन और काव्य, पृ० ३६

२२- प्रो० सत्यकाम वर्मा, जनकवि दिनकर, पृ० १३७

२३- दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० १४८

२४- वही, पृ० १५४-१५८

२५- वही, पृ० १६-२०

२६- वही, पृ० १५७

२७- रश्मिरथी, पृ० ४०

२८- वही, पृ० ५४

२६- दिनकर, रेणुका, पृ० ६३

३०- दिनकर, धूप और धुँआ, पृ० १६

३१- दिनकर, इन्द्रगीत, पृ० ५६

३२- प्रो० सत्यकाम वर्मा, जनकवि दिनकर, पृ० ६०

३३- डा० सन्तोषकुमार तिवारी, छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना, पृ० २२३ ।

३४- दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० २१

३५- वही, पृ० २५

३६- वही, पृ० ३४

३७- वही, पृ० १२३

३८- सं० सावित्री सिन्हा, दिनकर, पृ० ११६

३९- द्रष्टव्य, वही, पृ० १२०

४०- दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ४५

४१- डा० मदनगोपाल गुप्त, भारतीय साहित्य एवं संस्कृति, पृ० १२०, शीर्षक,भक्ति आंदोलन एवं ललित कलाएं ।

४२- डा० श्रीराम मेहरोत्रा, साहित्य का समाजशास्त्र , स्थापना और मान्यता, पृ० १०५, शीर्षक-कला संश्लेषण ।

४३- द्रष्टव्य, वही, पृ० १२८

४४- दिनकर, हारे को हरिनाम, पृ० ११३, शीर्षक- कला

पर जब तक जियूं
वीणा सुर में बोलती रहे
वह मेरा ही नहीं,
सब का दर्द खोली रहे ।

४५- कविता में कवि कहां छिपा है,

इसका सुराग नहीं मिले ।

यह कलाकार की सच्ची स्थिति है (पृष्ठ वही, द्रष्टव्य)

४६- दिनकर, रेती के फूल, पृ० ६३

४७- दिनकर, कोयला और कवित्व, पृ० ७६

४८- वही, पृ० ७७

४९- वही, पृ० ७९

५०- वही, पृ० ८१-८२

५१- वही, पृ० ९२

५२- डा० नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १६०

५३- द्रष्टव्य, वही, पृ० १६४

५४- दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ४५-४८ तक ।

५५- दिनकर, हारे को हरिनाम, पृ० ७३

५६- डा० गोविन्द्रचन्द्र पाण्डे, मूल्य मीमांसा, पृ० १७९

५७- दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० १२७, सर्ग सप्तम ।

५८- दिनकर, सीपी और शंख, पृ० १९, शीर्षक-राजनीति

५९- वही, परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६१

६०- वही, द्रष्टव्य, पृ० १६

६१- वही, पृ० ४६

६२- वही, शुद्ध कविता की खोज, पृ० ९२,शीर्षक-आधुनिक बोध ।

६३- द्रष्टव्य, वही, पृष्ठ-वही ।

६४- द्रष्टव्य, वही, पृ० ९४ ।